THE TIMES OF INDIA

Date: 28-01-25

Uniformly conformist

Uttarakhand's UCC takes police into bedrooms, tells adults their parents still run the show

TOI Editorial

It's momentous. A Uniform Civil Code is now in effect, in Uttarakhand. It's an idea that was debated by the constituent assembly's subcommittee on fundamental rights. Over the decades, it's gained purchase across the political aisles. Only, Parliament shied from it, while Uttarakhand marched ahead, and will likely be followed by other states soon. How, though, do its details measure up to the high ambition of a common law for all matters relating to marriage and property? On too many fronts, instead of a reform to meet the needs of our time, UCC Uttarakhand and its rules read like they mean to hold off social progress willy-nilly.

The most egregious example of this is a brand new regime for patrolling live-in relationships. Govt's primary rationale for this has been public consultation with parents and elders, interested in increased protection for youngsters. There's no data proffered to say that live-in relationships are extra prone to crime. Such data doesn't exist. Such a fact doesn't exist. What exists is a massive social transformation where Gen Z and juniors no longer study, work and fraternise like the previous generations. Accelerated urbanisation has recast their lived reality, making the expectation that they remain 'traditional', absurd, even cruel.

Only through the most invasive possible means can the state know if any two cohabiting adults are in a live-in, a Victorian-style proxy for a sexual relationship. Yet, all live-ins must now apply for registration, which will be shared with police, and can also be rejected on sundry grounds. This is an assault on the fundamental rights to privacy and personal liberty.

There's much else in this UCC that's oppressive. But it also errs in all that it does not do. On marriage registration, the state's role seems to be intimidation. On divorce, it fails to ease up. On marriage age, it retains the sexist and stale 18-21 binary. That a wife can seek divorce if her husband rapes another woman, but not herself, is an Indian perversion Uttarakhand could have reformed, but doesn't. The institutional guardrails of this inadequate UCC are now in place. This is a sad and bad beginning of a new law.

THE ECONOMIC TIMES

Date: 28-01-25

Putting Individuals Above the Herd

ET Editorial

Uttarakhand's adoption of a uniform civil code (UCC) is truly welcome. UCC privileges individual rights over customary, religious and community practices that come in the way of Indian law. Much noise has been made about putting 'human' before 'member of community'. Uttarakhand can provide a template for UCC, while maintaining that the code isn't bandied about against any particular community.

As with any law, proof of the pudding lies in the changes it fosters in personal matters, such as the domain of marriage, divorce and inheritance. The Uttarakhand UCC clearly set out age of consent, procedures of divorce, inheritance and succession. The state and courts will treat all persons equally without regard for religion or gender. Treating every person as an individual — and not as a unit of a bigger group based on religion or gender — is the obvious way forward. UCC provides protection from existing practices that religions or communities' favour in contravention of law. The mandatory registration of marriage, setting a common age of consent and creating conditions that would make it possible for individuals to exercise their rights are part of this supra-communal (in the sense of community) arrangement by law.

Some aspects, though, will require finessing. Take the business of mandatory registration of live-in partnerships. It's 2025 and hidebound rules of 'relationships' should not be conflated in 'non-personal' law. The Uttarakhand UCC is a major step for a religion-, caste-, creedand community-agnostic civil law structure that puts individual rights above that of 'herds'. As UCC is rolled out, the state must ensure that the law maintains the balance between individual rights and curbs to ensure all persons enjoy equal rights.

दैनिक भास्कर

Date: 28-01-25

एक बेहतर समाज वह होता है जिसमें विषमताएं न हों

ज्यां द्रेज,

पूंजीवाद गांव के पुराने जमींदार की तरह है : अधिकांश लोग उसे नापसंद करते हैं, लेकिन कोई नहीं जानता उससे छुटकारा कैसे पाया जाए। कुछ लोगों को लगता है उसके बिना जीना संभव नहीं है, दूसरों का तो यह भी कहना है कि हमें काम देने के लिए उनका आभारी होना चाहिए। बहुत कम लोग जमींदार के बिना जीवन की कल्पना कर पाते हैं।

पूंजीवादी व्यवस्था में, कुछ ही लोग उत्पादन के साधनों के मालिक होते हैं और उनका इस्तेमाल मुनाफा कमाने के लिए करते हैं। बाकी लोग ज्यादातर उनके लिए मजदूरी का काम करते हैं। इस व्यवस्था पर कम से कम तीन आपत्तियां हैं।

पहला, पूंजीवाद आर्थिक असमानताएं पैदा करता है। कुछ ही लोगों को शक्तिशाली बनाता है और लोकतंत्र को कमजोर करता है। अमेरिका को देखिए, वहां आजकल अति-अमीर अरबपतियों का एक छोटा-सा गिरोह ही देश चला रहा है। भारत के भी उसी रास्ते पर जाने का खतरा है।

दूसरा, पूंजीवाद हर चीज से मुनाफा निकालने की कोशिश करता है। जल, जंगल, जमीन, खनिज, पशु, ज्ञान, डेटा, गीत, कविताएं, शादी, तारे, महासागर, यहां तक कि मनुष्य- सब कुछ मुद्रीकरण के लिए चारा है। इस अतृप्त लालच का सबसे बड़ा शिकार पर्यावरण है। पूंजीवाद सचमुच पृथ्वी को नष्ट कर रहा है।

तीसरा, पूंजीवाद श्रम का शोषण जारी रखता है। मजदूरी एक प्रकार की गुलामी है। मजदूर और गुलाम दोनों ही अपनी आज़ादी बेचते हैं। अंतर यह है कि गुलाम इसे थोक में बेचता है, जबकि मजदूर टुकड़ों में।

तो, विकल्प क्या है? पारंपरिक उत्तर यह है कि सरकार उत्पादन के साधनों का कब्जा करे और अर्थव्यवस्था चलाए। हालांकि, यह संतोषजनक विकल्प नहीं लगता। यह मजदूरों को पूंजीपति के गुलामों से सरकार के गुलामों में बदल देता है। यह सुधार तो हो सकता है, लेकिन स्वतंत्रता नहीं है। इसके अलावा, यह विकल्प सरकार को बहुत अधिक शक्ति देता है। इस शक्ति का दुरुपयोग हो सकता है।

एक अन्य विकल्प यह है कि मजदूर स्वयं आर्थिक साधनों के मालिक रहें और उद्यमों का प्रबंधन करें। मैं आपकी हंसी सुन सकता हूं, लेकिन यह कोई मजाक नहीं है। अर्थशास्त्र का सबसे बड़ा रहस्य यह है कि मजदूरों को बॉस की जरूरत नहीं होती। वे निर्वाचित प्रबंधकों की मदद से खुद उद्यम चला सकते हैं।

कई अनुभव इस सरल बिंदु को प्रदर्शित करते हैं। सबसे महत्वपूर्ण स्पेन में मोंड्रेगन प्रयोग है। मोंड्रेगन सहकारी समितियों का संघ है, जिसमें 80,000 से अधिक मजदूर कार्यरत हैं। सहकारी समितियां साइकिल, फ्रिज, दवाइयां, मशीनें और कई अन्य वस्तुएं बनाती हैं। संघ में सुपरमार्केट की एक शृंखला, एक सहकारी बैंक और एक विश्वविद्यालय भी शामिल है। ये संघ 68 वर्षों से अस्तित्व में है और उद्यम बहुत अच्छे-से चल रहे हैं। मजदूर ही उनके मालिक हैं।

दुनिया भर में इस तरह के कई अन्य लोकतांत्रिक उद्यम हैं। भारत में भी, केरल में मोंड्रेगन जैसा उरालुंगल सहकारी समिति नामक उद्यम है, जिसमें हजारों मजदूर लोकतंत्रिक रूप से काम करते हैं।

अमूल, इंडियन कॉफी हाउस और लिज्जत पापड़ जैसी अन्य सहकारी समितियां भी हैं। लेकिन इस तरह के उद्यम तभी फलेंगे-फूलेंगे जब उन्हें सहयोगपूर्ण वातावरण मिलेगा।

जब मजदूर अपने उद्यम का प्रबंधन स्वयं करते हैं, तो कई चीजें बदलती हैं। इससे स्वतंत्रता पैदा होती है। कार्य-वातावरण सुधरता है। विषमता कम होती है। अरबपति गायब हो जाते हैं। भ्रष्टाचार मुश्किल हो जाता है। स्थानीय पर्यावरण के प्रति सम्मान होता है, क्योंकि यह मजदूरों का पर्यावरण है। लोकतंत्र की संस्कृति विकसित होती है, जिससे समाज को ही लाभ होता है।

जैसे जमींदार अपनी जमीन नहीं छोड़ते, वैसे ही पूंजीपति भी बिना किसी प्रतिरोध के मजदूरों को उद्यम नहीं सौंपेंगे। लेकिन जब हम एक बेहतर समाज बनाने के लिए काम करते हैं, तो यह जानना महत्वपूर्ण है कि हमारे लक्ष्य क्या हैं।

Date: 28-01-25

वर्क-लाइफ बैलेंस सिर्फ काम के घंटों से तय नहीं होता

नंदितेश निलय,

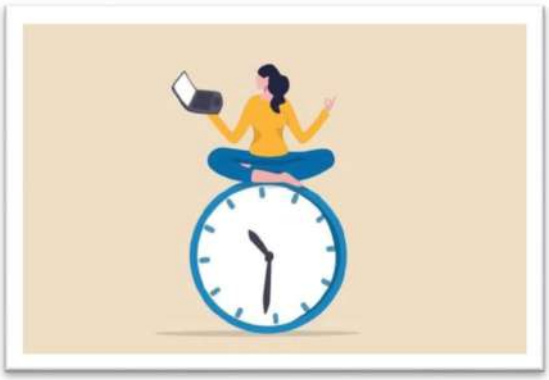

क्या कर्मचारी को सप्ताह में 70 या 90 घंटे काम करना चाहिए? लेकिन क्यों? क्या कर्मचारी को अपनी खुशी के लिए परिवार के साथ समय नहीं बिताना चाहिए? आज इस बहस ने हर उस कर्मचारी के वर्क-लाइफ बैलेंस को प्रभावित किया है, जो सुबह 8 बजे जब ऑफिस के लिए निकलता है तो रात 8 बजे ही घर लौट पाता है। और घर में भी उसका वॉट्सएप्प और फोन उसे ऑफिस से जोड़े रखते हैं। एआई के युग में मनुष्य को मशीन की तरह देखा जा रहा है।

लेकिन क्या कर्मचारी भी एक सामाजिक प्राणी नहीं है? क्या उत्पादकता सिर्फ कुछेक घंटों पर निर्भर करती है या कर्मचारी के मोटिवेशन पर भी? क्या संस्थाएं अपने कर्मचारी की खुशी या पारिवारिक जिम्मेदारी के प्रति कोई भूमिका नहीं रखतीं? अगर पारिवारिक संबंध खुशी का कारण हैं तो किसी कर्मचारी का परिवार के साथ समय बिताना जरूरी क्यों नहीं? उत्पादकता क्या केवल इस पर निर्भर है कि कौन कितने घंटे काम करता है?

सवाल संतुलन का है, कार्य के प्रति और उस कार्य के साथ जुड़े मनुष्य के जीवन के प्रति। क्या हमें सिर्फ प्रोडक्टिव वर्कफोर्स चाहिए या खुश वर्कफोर्स भी? हाल ही में टेबल स्पेस के सीईओ अमित की मात्र 45 की आयु में कार्डियक अरेस्ट से मृत्यु हो गई। बेंगलुरू में इधर कुछ और भी फाउंडर्स की कम उम्र में मृत्यु होने की खबर आई है। मणिपाल हॉस्पिटल के कार्डियोलॉजिस्ट डॉ. शेट्टी लिखते हैं कि इस तरह की असामयिक मृत्यु में वर्क-लाइफ बैलेंस का असंतुलन प्रमुख है। अगर लोग काम से ब्रेक नहीं लेंगे तो तनाव तो बढ़ेगा ही। कुछ स्टार्टअप्स इतना अधिक टारगेट रखते हैं कि तनाव होना लाजिमी है। आज ऑफिस में सभी हर मिनट व्यस्त रहते हैं। ऐसे में जीवन छूटने लगता है। न खाने का समय, न सोने का, न परिवार के लिए समय। कोविड महामारी के बाद वर्क-लाइफ संतुलन के लिए कई देशों ने चार दिवसीय कार्य-सप्ताह बनाने की कोशिश की है। उन्होंने यह समझने की कोशिश की कि किस तरह चार दिन के कार्य-सप्ताह की संस्कृति कर्मचारियों को खुश, स्वस्थ और अधिक उत्पादक बनाती है। जर्मनी, नीदरलैंड्स, बेल्जियम, डेनमार्क, ऑस्ट्रेलिया, जापान आदि देशों ने माना कि वर्क-लाइफ संतुलन के लिए यह जरूरी है। जापान का तो यह मानना है कि यह 'करोषी' या 'डेथ बाय ओवरवर्क' को कम करता है।

स्टीव जॉब्स ने 2005 में स्टैनफोर्ड दीक्षांत भाषण में कहा था कि 'अगर आज मेरे जीवन का आखिरी दिन हो, तो क्या मैं वह करना चाहता जो मैं आज करने वाला हूं?' सच यह है कि वर्क-लाइफ का संतुलन काम के घंटों पर ही नहीं, बल्कि कर्मचारी की गुणवत्ता और काम के लिए लगन पर भी निर्भर होती है। डगलस मैकग्रेगर की थ्योरी एक्स और वाई में वाई, प्रबंधन के उस पक्ष पर जोर देती है कि कर्मचारी को अगर सही प्रेरणा मिले, कार्यस्थल का वातावरण सकारात्मक

हो तो हमें यह मानना चाहिए कि हर आदमी अपने कार्य को आनंदित भाव से कर सकता है। आखिर स्वास्थ्य, खुशी और जीवन के प्रति देखभाल का दृष्टिकोण ही जीवन और उत्पादकता के स्तर को सकारात्मक रख सकता है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 28-01-25

ई-कॉमर्स: स्पष्ट नियम जरूरी

संपादकीय

भारतीय मानक ब्यूरो (बीआईएस) ने हाल में ई-कॉमर्स क्षेत्र के लिए दिशानिर्देशों का मसौदा जारी किया है। बीआईएस का यह कदम स्वागत योग्य है और ऐसे समय में उठाया गया है जब देश में ऑनलाइन खरीदारी बहुत तेज रफ्तार से बढ़ रही है। इन दिशानिर्देशों का उद्देश्य उपभोक्ताओं और अन्य हितधारकों की चिंता दूर करना है। इन नीतियों एवं नियम-कायदों को तैयार करने में विभिन्न मंत्रालयों एवं विभागों की भूमिका रही है। मगर कहीं न कहीं इनसे विरोधाभासी संकेत मिल रहे हैं। इसका कारण यह है कि वाणिज्य एवं उद्योग मंत्रालय फिलहाल ई-कॉमर्स नीति तैयार करने में जुटा है और फिलहाल इसे अंतिम रूप नहीं दिया गया है। इस तरह, जब तक एक व्यापक नीति बनकर तैयार नहीं हो जाती तब तक बीआईएस द्वारा तैयार दिशानिर्देशों का कोई विशेष मतलब नहीं रह जाएगा। बीआईएस एक स्वायत्त संस्था है जो उपभोक्ता मामलों, खाद्य एवं सार्वजनिक वितरण मंत्रालय के अधीनस्थ काम करती है। ई-कॉमर्स नीति शीघ्र आ आए तो इन दिशानिर्देशों में अधिक पारदर्शिता आ जाएगी।

इन मसौदा दिशानिर्देशों पर ई-कॉमर्स उद्योग को फरवरी के मध्य तक अपनी प्रतिक्रिया देनी है। पिछले कई वर्षों के दौरान विभिन्न कारोबारी प्रारूप सामने आए हैं। किसी बड़ी ऑनलाइन कंपनी या मार्केटप्लेस के काम करने का तरीका फूड डिलिवरी कंपनी से अलग होता है। इसी तरह, इन्वेंट्री आधारित एकल ब्रांड फैशन ई-कॉमर्स कंपनी के काम करने का तरीका क्विक कॉमर्स कंपनी (झटपट सामान पहुंचाने वाली इकाइयां) से बिल्कुल अलग होता है। लिहाजा, यह उचित होगा कि दिशानिर्देशों में इन सभी विविधताओं का ध्यान रखा जाए। इससे ई-कॉमर्स कारोबार में लगी कंपनियां फुर्ती से उपभोक्ताओं को अनुचित व्यवहारों से सुरक्षित रखने में सक्षम हो सकेंगी।

भारत में ई-कॉमर्स का बाजार 137 अरब डॉलर रहने का अनुमान है। देश के ई-कॉमर्स बाजार के 2025 और 2030 के बीच 20 प्रतिशत चक्रवृद्धि दर से भी अधिक तेजी से अपना आकार बढ़ाने का अनुमान है। बीआईएस ने स्व-संचालन के लिए मसौदा दिशानिर्देश तैयार करते वक्त इस वृद्धि दर को ध्यान में रखा है। बीआईएस ने इस प्रक्रिया में उपभोक्ता सुरक्षा एवं विश्वास की राह में पैदा होने वाली चुनौतियों का हवाला दिया है। इस मसौदे में तीन चरणों वाला दृष्टिकोण

प्रस्तुत किया गया है। इनमें प्री-ट्रांजैक्शन अनुबंध से संबंधित जानकारी और पोस्ट ट्रांजैक्शन चरण शामिल किए गए हैं। प्रत्येक चरण में ई-कॉमर्स कंपनियों के लिए वृहद अनुपालन प्रक्रियाओं का पालन करना जरूरी होगा। इनमें कारोबारी साझेदार या विक्रेताओं से संबंधित जानकारियों (केवाईसी) की जांच करने, उत्पाद सूचीबद्धता, विक्रेता के संपर्क सूत्र की जानकारी, सभी हितधारकों के लिए कारोबार के समान अवसर सुनिश्चित करना आदि शामिल हैं। जिन कदमों के प्रस्ताव दिए गए हैं उनमें मदद या निर्देश के लिए सीधे संवाद की सुविधा बड़ी संख्या में ग्राहकों के लिए फायदेमंद होंगे। मगर उत्पादों के लेबल पर कार्बन उत्सर्जन से जुड़ी जानकारियां और ऑनलाइन प्लेटफॉर्म के नाम का जिक्र करना थोड़ा चुनौतीपूर्ण हो सकता है।

वैसे देश में ई-कॉमर्स बाजार अब भी खुदरा क्षेत्र के मात्र एक छोटे हिस्से के बराबर है। पिछले साल देश में खुदरा क्षेत्र 950 अरब डॉलर रहने का अनुमान लगाया गया था। इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि देश में ई-कॉमर्स क्षेत्र के लिए कारोबार करने की अपार संभावनाएं हैं, खासकर इंटरनेट और स्मार्टफोन की बढ़ती पहुंच से इस क्षेत्र के लिए उम्मीदें प्रबल हो गई हैं। ई-कॉमर्स क्षेत्र में नियामकीय हस्तक्षेप नरम होना चाहिए ताकि इसमें कारोबार करने वाली इकाइयों को अनुपालन से जुड़े अधिक झमलों में नहीं फंसना पड़े। इन कारोबारों में ज्यादातर स्टार्टअप इकाइयां हैं। खुदरा क्षेत्र में उपभोक्ताओं के हित सुरक्षित रखने के लिए सरकार और हितधारकों दोनों को साथ मिलकर काम करना चाहिए। इससे फिजिकल स्टोर और ई-कॉमर्स दोनों मंचों पर उत्पादों की गुणवत्ता सुनिश्चित करने, उत्पाद एवं रकम लौटाने की नीति और भुगतान से जुड़े मुद्दों से बेहतर ढंग से निपटने में आसानी होगी। नियमों के उल्लंघन पर किसी तरह की राहत एवं रियायत दिए बिना ये उपाय लागू करने के लिए एक केंद्रीय नियामकीय संस्था का गठन होना चाहिए। इस संस्था के पास नियमों का उल्लंघन करने वाली इकाइयों को दंडित करने का अधिकार होना चाहिए। विभिन्न मंत्रालयों एवं सरकारी विभागों द्वारा तैयार किए गए कानूनों से कारोबारी प्रक्रियाओं को लेकर उलझन और बढ़ जाएगी। नतीजा यह होगा कि अनुपालन लागत बढ़ने के साथ एक ऐसे क्षेत्र का विकास प्रभावित होगा जिसमें व्यापक संभावनाएं दिख रही हैं।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 28-01-25

समान संहिता लागू

संपादकीय

उत्तराखंड में समान नागरिक संहिता का लागू होना बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन है, जिस पर समाज में मिली-जुली प्रतिक्रिया स्वाभाविक है। न तो इस संहिता का समर्थन चौकाता है और न विरोध। उत्तराखंड के मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी ने सोमवार को समान नागरिक संहिता के तहत नियमों के बारे में विस्तार से बताया है और अब नियमों की समीक्षा हो रही है। राज्य में अब सभी धर्मों के लिए बहुविवाह पर प्रतिबंध लगा दिया गया है और बेटियों को पैतृक संपत्तियों में समान अधिकार भी दिया गया है। जाहिर है, इस संहिता से देश के बाकी राज्यों को भी सीखने और विचार करने की प्रेरणा मिलेगी। देश में अभी आधा दर्जन राज्य ऐसे हैं, जहां किसी न किसी चरण में समान नागरिक संहिता बनाने की कवायद चल रही है। इस संहिता की समर्थक सरकारें फूंक-फूंककर कदम रख रही है, तो अचरज नहीं। दुनिया में कई देश है, जो

अल्पसंख्यकों की आवाज को दबाकर तत्काल प्रभाव से और कड़ाई से ऐसी संहिता या नियमों को लागू कर देते हैं, पर भारतीय राज्य उत्तराखंड में सोच-विचार की लोकतांत्रिक प्रक्रिया के बाद संहिता को लागू किया गया है।

अधिकतर संविधान निर्माताओं ने यह सपना देखा था कि एक दिन देश में समान नागरिक संहिता पर सहमति बनेगी और उत्तराखंड ने यह शुरुआत कर दी है। संहिता में सभी धर्मों के विवाह, विरासत, भरण-पोषण और अन्य रिक मामलों के लिए समान नियमों की परिकल्पना की गई है। अब किसी भी धर्म के व्यक्ति को अपने जीवनसाथी के जीवित रहने तक दूसरी शादी करने की अनुमति नहीं दी जाएगी। वैसे तो हिंदुओं में भी एकाधिक शादी करने वाले मिल जाते हैं, पर इस्लामी कानून के हिसाब से चल रहे कुछ लोगों को यह संहिता नागवार लग सकती है। वैसे अल्पसंख्यक समान में भी अधिकतर लोगों ने एकल विवाह ही किए हैं और उन्हें इस संहिता से कोई फर्क नहीं पड़ेगा। वास्तव में, इस संहिता से महिलाओं को न्याय देने में सुविधा होगी। जब कोई एकाधिक विवाह करता है, तो महिलाएं ही सर्वाधिक प्रताड़ित होती हैं। उनके अधिकार और संसाधनों में कमी आ जाती है, अतः यह संहिता महिलाओं और बेटियों की एक बड़ी जीत है। महिलाओं को इस संहिता से विशेष बल मिलेगा। महिलाएं अपने विवाह को लेकर आश्वस्त रहेंगी। साथ ही लिव-इन रिलेशनशिप को पंजीकृत कराना अब अनिवार्य हो गया है। लिव-इन रिलेशनशिप से पैदा बच्चों को भी संपत्ति में समान हक मिलेगा। विवाह और उसके परे भी रिश्तों के बदलते दौर में ऐसे सुधार की जरूरत पूरे देश में महसूस की जा रही है ताकि कहीं भी शोषण से बचा जा सके।

उत्तराखंड के मुख्यमंत्री ने उचित ही कहा है कि समान नागरिक सहिता भेदभाव समाप्त करने का सांविधानिक उपाय है। सभी नागरिकों को समान अधिकार देने का प्रयास किया गया है। वास्तव में, इस सहिता से हलाला, बहुविवाह, बाल विवाह, तीन तलाक आदि बुराइयों को पूरी तरह से रोका जा सकता है। वैसे, इस संहिता से अनुसूचित जनजातियों को अलग रखा गया है, तो इसके पीछे की भारतीय उदारता को समझा जा सकता है। वैसे अनुसूचित जनजातियों में भी समय के साथ जागरूकता बड़ी है और वहां भी एक से ज्यादा विवाह करने वालों की संख्या कम हुई है। लोग अब समझने लगे हैं। कि आज बड़े परिवारों की नहीं, सुखी परिवारों की जरूरत है।

Date: 28-01-25

कृषि संकट का एकमात्र हल नहीं न्यूनतम समर्थन मूल्य

हिमांशु एसोशिएट प्रोफेसर, जेएनयू

पंजाब और हरियाणा के बीच खनौरी सीमा पर जारी किसान नेताओं का आमरण अनशन केंद्र सरकार से बातचीत के आश्वासन के बाद फिलहाल वापस ले लिया गया है। किसान संगठन सरकार से न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) की गारंटी मांगते रहे हैं। यह मांग नई नहीं है और 2020-21 में किसानों के एक साल के विरोध- प्रदर्शन के दौरान भी यह मांग पुरजोर उठी थी। किसान संगठनों के लिए जहां यह मसला अनिवार्य बन गया है, वहीं राजनीतिक पार्टियों के बीच भी इसकी जरूरत पर व्यापक सहमति बनती दिख रही है। हालांकि,

इसके क्रियान्वयन के तौर-तरीके बेशक स्पष्ट नहीं है, पर पिछले पांच वर्षों में कृषि क्षेत्र में आए आर्थिक संकट को देखें, तो यह मांग अनुचित भी नहीं जान पड़ती।

एक ऐसे समय में, जब हमारी अर्थव्यवस्था घटती या स्थिर आय के कारण मंदी से गुजर रही है, किसानों पर इसकी सबसे ज्यादा मार पड़ी है। न सिर्फ उनके मुनाफे में कमी आई है, बल्कि कीमतों और जलवायु से जुड़ी अनिश्चितताएं भी बढ़ गई हैं। शहरी और गैर-कृषि अर्थव्यवस्था में अवसरों की कमी आने से खेती-किसानी पर लोगों की निर्भरता बढ़ गई है। इसीलिए, पिछले पांच वर्षों में खेतिहर मजदूरों की कुल संख्या में करीब 6.8 करोड़ की वृद्धि हुई है। इसका नुकसान यह हुआ है कि प्रति किसान आय में कमी आई है। स्थिति यह है कि करीब एक दशक से कृषि मजदूरी स्थिर है, कृषि कार्यों में लगे लोगों की दशा खराब हुई है और पिछले पांच वर्ष में प्रति किसान आय में भारी गिरावट देखी गई है। आंकड़े बताते हैं कि 2017-18 और 2022-23 के बीच किसानों की आमदनी में प्रतिवर्ष 2.9 फीसदी की कमी आई है। इसकी तुलना 2004-05 और 2011-12 के बीच किसानों की आय में हुई सालाना 7.5 फीसदी की वास्तविक वृद्धि से करें, तो पिछले दशक में, यानी 2011-12 से 2022-23 के दौरान किसानों की आमदनी बमुश्किल एक प्रतिशत सालाना की दर से बढ़ी है। वह पिछले चार दशक का सबसे बदतर दशक साबित हुआ है। यहां तक कि साल 2016-17 की तुलना में भी, जब सरकार ने किसानों की आमदनी दोगुनी करने की घोषणा की थी, किसानों की वास्तविक आमदनी में 0.8 फीसदी सालाना की दर से कमी ही आई। जाहिर है, हमारे अन्नदाता सबसे बुरे दौर से गुजर रहे हैं।

फसल की कीमतों में उतार-चढ़ाव और घटते फायदे जहां अहम मसले हैं, वहीं कम होते प्राकृतिक संसाधन, विशेषकर जल और जमीन की घटती गुणवत्ता भी किसानों को खासा परेशान कर रही है। फिर, कर्ज बाजार की विसंगतियों ने बड़ी संख्या में छोटे व सीमांत किसानों के साथ-साथ काश्तकारों के लिए कर्ज लेना मुश्किल बना दिया है। इससे किसानों की परेशानी बढ़ गई है। इतना ही नहीं, किसानों पर कर्ज का बोझ बढ़ा हुआ है और जलवायु परिवर्तन के कारण बार-बार सामान्य से अधिक गर्मी व बेमौसम बारिश के कारण उनकी लागत कई गुना बढ़ गई है। इन समस्याओं से पार पाने के लिए कृषि क्षेत्र में बड़े सार्वजनिक निवेश की जरूरत है।

कृषि नीतियों में किसानों के लिए आमदनी और अस्थिर कीमतों से सुरक्षा संबंधी नीति कोई अलग सोच नहीं है। यह तो कई अन्य देशों में भी प्रचलित है। ऐसा अनेक विकासशील देशों में भी होता है और विकसित राष्ट्रों में भी। मिसाल के लिए, यूरोपीय संघ की एक साझा कृषि नीति है, जबकि अमेरिका में सुरक्षात्मक। अमेरिका में तो समर्थन मूल्य के दायरे में प्रकार की फसलों के अलावा डेयरी और अन्य पशुधन उत्पाद भी आते हैं।

बहरहाल, सिर्फ एमएसपी की गारंटी देने से खेती- किसानी से जुड़ी समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। हालांकि, सच यह भी है कि एमएसपी के मौजूदा तंत्र में सुधार की दरकार है, खासकर चुनिंदा फसलों को इसका लाभ देने और इसकी भौगोलिक सीमाओं को देखकर। लिहाजा, एमएसपी के तहत अधिक से अधिक फसलों की खरीद होनी चाहिए। इसके साथ ही मूल्य नियंत्रण, स्टॉक की सीमा, अनुचित अंतरराष्ट्रीय व्यापार नियमों आदि

से जुड़ी नीतियों में भी बदलाव होने चाहिए। खेती- किसानी को टिकाऊ बनाने के लिए समग्रता में प्रयास करना होगा। यह जितना जरूरी है, उतना ही आवश्यक है, तंत्र पर किसानों का भरोसा मजबूत बनाना ।